हिन्दी में बाल साहित्य: वस्तुस्थिति और संभावनाएं

❑ सुरेश पंडित

जाने माने पत्रकार चंचल सरकार ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हाफ दि वर्ल्ड'ज चिल्ड्रन' में दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया के बच्चों की दुरवस्था पर रोशनी डालते हुए लिखा था - 'आज की दुनिया में बच्चों का वर्तमान ही इतना अन्धकारमय है कि उनके भविष्य के थोड़ा-सा भी उज्ज्वल होने की कल्पना तक नहीं की जा सकती। जिस दुनिया में वे अपनी जिन्दगी की शुरूआत करते हैं उसमें गरीबी, भूख और बीमारी का साम्राज्य होता है। शिक्षा के लिए टूटे-फूटे स्कूल होते हैं और उनमें पूर्वाग्रह व कुंठा से घिरे अध्यापक होते हैं । शिक्षा को निहायत फिजूल की चीज या अमीरों की विलासिता समझने वाले अधिकतर अभिभावक होते हैं तो साथ ही बच्चों की कमाई से अपनी जरूरतें पूरी करने वाले परिवार भी होते हैं।' जाहिर है बच्चों को ऐसे हालात में अपने इर्द-गिर्द पाते हुए भी किसी को उनकी ओर ध्यान देने की फुर्सत नहीं होती। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बनते बिगड़ते प्राथमिकता के क्रम में वे हमेशा पिछड़े, उपेक्षित रहने के लिए अभिशप्त होते हैं। रोजाना उन्हें गलियों, बाजारों, रेलों, मेलों में भीख मांगते, कूड़े के ढेरों को खंगालते, होटलों में बर्तन मांजते, घरों पर झाडू पोंछा लगाते, जंगल में भेड़ बकरी चराते, माचिस, पटाखे और गलीचों के कारखानों में बंधुआ मजदूरी करते देखा जा सकता है। पर इनके लिए थोथी चिन्ता जताने और छिटपुट उपाय करने के अलावा कोई कुछ नहीं करता। लगता है सबने इनकी बदहाली को अदृश्य विधि का विधान मानते हुए इन्हें ऊपर वाले के भरोसे छोड़ दिया है। कभी चार्ल्स डिकन्ज ने इंग्लैण्ड में और विक्टर ह्यूगो ने फ्रांस में बच्चों की दयनीय हालत की जिन करुणाजनक तस्वीरों को पेश कर अपने-अपने देशवासियों की आत्मा को झकझोरा था अब उन तस्वीरों की शक्लें दक्षिण एशिया के बच्चों की शक्लों में तब्दील हो गई हैं। पर इन देशों का कोई साहित्यकार इनकी लोमहर्षक दुर्दशा को अपनी रचनाओं की विषयवस्तु बनाने के लिए उद्यत नहीं हो रहा है।

बच्चे न हमारे देश की राजनीति के एजेन्डे में हैं और न साहित्य के। आज ही नहीं पहले भी कभी वे सरकारों या साहित्यकारों की चिन्ता का विषय नहीं रहे। कभी सोचा ही नहीं गया कि उनके हालात में सुधार की जरूरत है, कि उनका मन बहलाने के लिए रुचिकर मनोरंजन की जरूरत है, कि उन्हें स्वस्थ रखने के लिए पोषक खानपान आवश्यक है और उनके मनोस्वास्थ्य के लिए प्रेम, करुणा व संवेदनशीलता की आवश्यकता है। माना यह जाता रहा कि वे तो भगवान की देन हैं इसलिए वही उनकी आवश्यक देखभाल करता है और किसी को कुछ करने की जरूरत नहीं है। बच्चों के प्रति इस तरह का ठंडापन-उदासीनता का व्यवहार क्यों व कैसे पनपा इसकी पड़ताल करने के लिए भारतीय विशेषकर हिन्दी राज्यों के परिवारों और समाजों के परम्परागत संस्कारों, मान्यताओं, रीति-रिवाजों, और आचरण संहिताओं का गहराई से अध्ययन करना आवश्यक है। दृष्टव्य है कि पुरुष प्रधान समाज में परिवार का मुखिया पद सदा अनिवार्यत: पिता, पति या पुत्र को ही मिलता रहा है। स्त्रियां न केवल पुरुषों के अधीन ही रहीं बल्कि उनके अपने

स्वतंत्र व्यक्तित्व की पहचान बनाने या प्रदर्शित करने के तनिक से प्रयास का भी सदा सख्ती से दमन किया गया। वे घर में रहें, पर्दा करें, ज्येष्ठ लोगों के सामने न आएं, बुजुर्गों के रहते अपने पतियों से भी बात न करें, बच्चों से लाड़ न लडाएं जैसे नियम कानून उन पर लागू रहे। परिवार की ज्येष्ठ महिलाएं इनका पालन करवाने के लिए उत्तरदायी मानी जाती रहीं। परिणामस्वरूप पुरुष भी रात्रि के अतिरिक्त अपनी पत्नियों से बात करने, बच्चों से प्यार करने, यहां तक कि हंसकर बोलने तक का अधिकार नहीं रखते थे। बच्चों की बीमारी की हालत में तीमारदारी करना तक घर की बुजुर्ग महिलाओं के हाथ में था। ऐसी स्थिति में अनुमान लगाया जा सकता है कि बच्चों की परवरिश में और आगे चलकर उनकी पढ़ाई लिखाई की देखरेख में उनके माता-पिता का कितना योगदान रहता था और यह भी देखा जा सकता है कि समाज भी उनके प्रति कैसा नजरिया रखता था। संयुक्त परिवार थे और सन्तति निग्रह जैसी बात से लोग अनजान थे। इसलिए बच्चों को साथ मिलता था अपने सगे और रिश्ते के भाई-बहनों का, पास-पड़ोस के दोस्तों/सहेलियों का और स्कूलों के सहपाठियों का। उन्हीं से वे मन बहलाते थे और उन्हीं से अच्छी बुरी बातें सीखते थे। परिवार/समाज में एक मान्यता यह भी थी कि बच्चों से अधिक लाड-लडाना उन्हें बिगाड़ सकता है। इसलिए उनसे आत्मीयता दिखाना, उनके बारे में चिन्ता प्रकट करना या उनसे नर्मी का व्यवहार करना उनके अनुशासित बनने में बाधक हो सकता है। सुप्रसिद्ध अंग्रेजी की कहावत 'स्पेयर दि रोड, स्पोइल दि चाइल्ड' अभिभावकों/अध्यापकों के लिए वेदवाक्य थी। बच्चों को सच्चरित्र एवं ब्रह्मचर्यव्रती बनाने पर उनका खास जोर था। परिवार और समाज का यह माहौल और उनके प्रति ऐसी दृष्टि उन्हें खेलकूद की तो छूट देते थे, अन्य किसी प्रकार के किस्से-कहानियों की पुस्तकें, नाटक-नौटंकी या ग्रामोफोन व बाइस्कोप को पढ़ने/देखने की इजाजत नहीं देते थे। तात्पर्य यह कि अनुशासन और नैतिकता बच्चों के लिए सर्वसम्मत सद्‌गुण बने हुए थे। हां, दादी, नानियों से कहानियां सुनी जा सकती थीं। क्योंकि बुजुर्ग होने के कारण उन पर पारिवारिक नियमों की अनुपालना में किंचित शिथिलन था।

हिन्दी को संस्कृत साहित्य की जो परम्परा विरासत में मिली उसका भी सारा माल-मसाला वयस्कों के रसास्वादन योग्य था। संस्कृत साहित्य में वेदव्यास कृत श्रीमद् भागवत, वाल्मीकि रामायण के बाल कांड और कालिदास के उत्तररामचरितम् को छोड़कर कहीं बाल लीला का वर्णन तक नहीं आता। इसके रीतिग्रन्थों में कहीं कोई ऐसे प्रावधान दिखाई नहीं देते जो बाल साहित्य की रचना को प्रोत्साहित करने में सहायक होते हों। हिन्दी ने इस साहित्य परम्परा को कुछ समय तक तो आगे बढ़ाया फिर धीरे-धीरे अपना पृथक व्यक्तित्व निर्मित करने के लिए इससे पीछा छुड़ा लिया। इसने अपना अलग साहित्यशास्त्र रचा और यहां की विभिन्न भाषाओं, बोलियों तथा अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि विदेशी भाषाओं के साहित्यों की विधाओं, शैलियों और विचारों में से जो अपने लिए उपयोगी लगा उसे अपने साहित्य में स्थान दिया। पर जितनी तेजी से बौद्धिक स्तर पर यह परिवर्तन आया उतनी तेजी से मानसिकता नहीं बदली। आज भी परिवार और समाज में पुरुष सत्ता को चुनौती तो बेशक मिली है उसमें डगमगाहट भी हुई है पर अपेक्षित बदलाव नहीं आया है। संयुक्त परिवारों के ध्वस्त होने और एकल परिवारों के उदय से बच्चों के प्रति माता-पिता के नजरिए बदले हैं लेकिन यह बदलाव स्वेच्छा या परिस्थितियों के दबाव से हुआ है। मनोरंजन के पारंपरिक साधनों की जगह रेडियो, सिनेमा, टीवी, पत्र/पत्रिकाएं कॉमिक्स आदि तक बच्चों की पहुंच बढ़ी है। लेकिन यह सब अधिकतर शहरी, पढ़े-लिखे और खाते-पीते परिवारों के बच्चों तक ही हुआ है। गांवों के निर्धन निरक्षर परिवारों या उन परिवारों, जहां पहली पीढ़ी ही पढ़ रही है, बच्चों की स्थिति अभी तक जस की तस बनी हुई है।

हिन्दी प्रदेश शुरू से ही साक्षरता में पिछड़े रहे हैं। इसलिए यहां जितना भी साहित्य लिखा गया या लिखा जा रहा है, उससे गांवों, ग्रामीणों और आम लोगों की गरीबी, बदहाली और गैर-बराबरी जैसे मुद्दे ओझल तो नहीं हुए लेकिन उन तक संप्रेषित नहीं हुए जिन्हें इनकी जानकारी की जरूरत थी क्योंकि ये पढ़ना नहीं जानते थे। जो लोग थोड़ा जानते भी थे वे इतने काबिल नहीं हुए थे कि इस साहित्य को पढ़कर रसास्वादन कर पाते और इसके निहितार्थों को समझ पाते। इसलिए मुख्यधारा का जो हिन्दी साहित्य पिछली सदी में रचा गया, उसमें कुछ अपवादों को छोड़कर, बाकी का प्रसार अधिकतर उस मध्यमवर्ग और कुछ सीमा तक उच्चवर्ग तक ही रहा जिसके लिए साहित्य आज भी मनोरंजन या परिणामविहीन बहस की वस्तु बना हुआ है।

बाल साहित्य हिन्दी में आजादी के पहले तक प्राय: मौलिक रूप में लिखा ही नहीं गया। जो कुछ मिलता भी है वह संस्कृत के पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक कथाओं या बेताल कथाओं का रूपान्तरण जैसा या उसी तर्ज पर मौलिक जैसा कुछ है। आजादी के बाद के प्रारंभिक दो दशकों में उक्त कथाओं के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों तथा कतिपय अन्य देशों की लोक कथाओं के संग्रह बच्चों के लिए उपयोगी साहित्य के रूप में प्रस्तुत हुए। गीता प्रेस गोरखपुर ने रामायण, महाभारत की छोटी-छोटी कहानियों को मोटे टाइप में आकर्षक चित्रों के साथ पेश किया। इनका उद्देश्य बच्चों

का मनोरंजन उतना नहीं जितना उन्हें शुरू से धार्मिक संस्कार संपन्न बनाना था। इंडियन प्रेस, इलाहबाद की 'बाल सखा' पत्रिका संभवत: हिन्दी में पहली बाल पत्रिका थी। बाद में वानर, चन्दामामा, नन्दन, पराग, चंपक, नई पौध, आरंभ आदि पत्रिकाएं निकलीं। इनमें से कुछ अब भी चल रही हैं।

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू को बच्चों से बहुत लगाव था। वे चाहते थे इस देश के बच्चे पढ़-लिख कर जल्दी से जल्दी इस देश को विकसित देशों के समकक्ष ले जाने के लिए तैयार हो जाएं। साथ ही उनका जोर इस बात पर विशेष था कि शिक्षा बच्चों को वैज्ञानिक सोच से संपन्न बनाए। उनकी ही पहल पर राष्ट्रीय बाल भवन बने, चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट की स्थापना हुई और 14 नवम्बर को बाल दिवस के रूप में मनाने की परम्परा शुरू हुई। कहना न होगा कि नेहरू जी की प्रेरणा ने शिक्षा के प्रसार, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ज्ञान-विज्ञान की आवाजाही और पहले प्रिन्ट और बाद में श्रव्य व दृश्य मीडिया के विस्तार से भारतीय जनमानस में बच्चों के प्रति अपना रवैया बदलने और अपने मताग्रहों को जबरन बच्चों पर थोपने की प्रवृत्ति से बचने के लिए बढ़ावा दिया। परिणामस्वरूप आज हिन्दी में बाल साहित्य संख्यात्मक रूप में प्रचुरता से उपलब्ध है। उसमें कविताएं, कहानियां, उपन्यास, नाटक, जंगल कथाएं, लोक कथाएं, यात्रा वर्णन आदि बहुत तरह की सामग्री उपलब्ध है। अनेकों प्रकाशक इस क्षेत्र में उतर आए हैं और तरह-तरह की रंगबिरंगी चिकने कागज पर छपी मनभावन पुस्तकें काफी कम कीमत पर बच्चों को देने की कोशिश में लगे हैं।

पर हैरानी की बात यह है कि पूर्व सोवियत संघ द्वारा हिन्दी में प्रकाशित बच्चों की किताबों और आजकल बाजार में आ रही अंग्रेजी की पुस्तकों को पढ़ने का चाव अभी तक भी बच्चों का पीछा नहीं छोड़ रहा है। इसका प्रमुख कारण है बाल लेखन से हिन्दी के सिद्धहस्त लेखकों का परहेज करना। अंग्रेजी, फ्रेंच, रूसी आदि भाषाओं के उच्च कोटि के लेखकों ने कभी बच्चों के लिए लिखने को ओछा कर्म नहीं समझा। लेकिन हिन्दी लेखकों ने न जाने क्यों दो तरह के भ्रम पाल लिए हैं। वे समझते हैं बच्चों के लिए लिखने का मतलब है बचकाना लेखन। आश्चर्य है वे दलितों, आदिवासियों और औरतों के लिए लिखकर तो अपनी स्वनिर्मित गरिमा से च्युत नहीं होते पर बच्चों के लिए लिखने से उन्हें घटिया स्तरीय बन जाने का डर लगता है। दूसरा भ्रम लोकप्रियता को लेकर है। अपने लेखन की वजह से जो लोकप्रिय होते हैं या जो रचनाएं आम लोगों की भाषा में उन्हीं के मानसिक स्तर के अनुरूप लिखी जाने के कारण लोगों की पसन्द बन जाती हैं। उन लेखकों को प्रोफेशनल या कामर्शियल घोषित कर दिया जाता है और ऐसी रचनाओं के साथ 'पल्प' या 'चीप' का विशेषण चिपका दिया जाता है। आम लोगों के दुख-दर्द को अपने लेखन की विषयवस्तु बना कर लिखा गया वह साहित्य जो उनकी समझ से व पहुंच से परे रहता है उसी को अपनी उपलब्धि बताकर सन्तुष्ट होना और व्यापक प्रसार वाले साहित्य को हीन या घटिया करार देना उनके हीनता बोध का ही परिचायक है। सचाई यह है कि बच्चों के लिए साहित्य लिखना कोई आसान काम नहीं है। हिन्दी के लेखकों द्वारा लेखन से परहेज करने का कारण यह डर भी हो सकता है कि कहीं वे बच्चों की पसन्द के अनुरूप नहीं लिख पाए तो उनकी आलोचना होगी और उससे उनकी बनी बनाई प्रतिष्ठा को क्षति पहुंचेगी। उनकी इस उपेक्षा का ही यह परिणाम है कि बाल लेखन में अधिकतर वे लेखक घुस आए जिनमें न लेखकीय प्रतिभा थी और न बाल मनोविज्ञान की समझ। उन्होंने इधर-उधर से नकल की या दूसरों की कहानियों को अपनी भाषा में, परिवेश, परम्परा के अनुसार ढालकर मौलिक की तरह प्रस्तुत कर दिया। प्रकाशकों को बढ़ती स्कूलों और पुस्तकालयों की संख्या व बच्चों में पनपती पाठ्यपुस्तकों से अलग कुछ पढ़ने की ललक ने बाध्य कर दिया कि वे उन्हें भारी मात्रा में माल की सप्लाई करें। बड़े लेखक इस तरह के लेखन के लिए तैयार हो नहीं रहे थे, फिर उनके नाज नखरे भी बहुत थे। सो उन्होंने अपने लेखक स्वयं तैयार करना शुरू कर दिया। हिन्दी पढ़ाने वाले अध्यापकों, व्याख्याताओं या अन्य धन्धों में लगे ऐसे लोगों को जिनमें थोड़ा-सा भी लिखने-पढ़ने का रुझान था और जो उम्र में बड़े होकर भी अपनी बाल बुद्धि को सुरक्षित रखे हुए थे, इस काम में लगाया गया और प्रति पृष्ठ के हिसाब से पांडुलिपियां लिखवाई व खरीदी जाने लगीं। इन्हें स्कूलों के व सार्वजनिक पुस्तकालयों में खरीदवाने का काम भी ऐसे ही लोगों को मिला जो पुस्तक की पाठ्यवस्तु की तुलना में मिलने वाले कमीशन को अधिक महत्त्व देते हैं। नतीजा यह है कि बाल साहित्य खूब छप रहा है, खूब बिक रहा है पर उसे पढ़ने वालों की संख्या निरन्तर घट रही है। वह अलमारियों में बन्द रहता है और धीरे-धीरे बच्चों द्वारा पढ़े जाने की बजाय दीमकों द्वारा खा लिया जाता है। फिर भी यह परिणाम प्रकाशक, लेखक व खरीददार के लिए कोई परेशानी पैदा नहीं कर रहा। क्योंकि उनकी कमाई यथावत चालू है।

आजकल कुछ गैर सरकारी/स्वैच्छिक संस्थाओं, प्रकाशन संस्थाओं ने बाल साहित्य लिखवाने का एक नया नायाब तरीका इजाद किया है। ये किसी अच्छी जगह तीन या पांच दिन की आवासीय वर्कशॉप आयोजित करती हैं और कुछ लेखकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं को बुलाती हैं। पहले दिन बच्चों से संबंधित कुछ मुद्दों पर विशेषज्ञों की वार्ताएं होती हैं ताकि वैचारिक समझ का

निर्माण हो जाए। शेष दिनों में संभागियों को वहीं रहकर विभिन्न विधाओं में एक एक छोटी पुस्तिका तैयार करनी होती है। आखिरी दिन प्रत्येक पांडुलिपि की सबके सामने प्रस्तुति और उस पर विचार विमर्श होता है। तत्पश्चात् आवश्यक संशोधन परिवर्तन के बाद पांडुलिपियां आयोजकों को सौंप दी जाती हैं। वे विषयानुरूप उनके चित्र एवं डिजाइन तैयार करवा के छपवा देते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इसमें लेखक को केवल यात्रा व्यय तथा आवासीय एवं भोजनादि की सुविधाएं ही प्राप्त होती हैं। कोई-कोई उदार संस्था प्रतिदिन का प्रतीकात्मक मानदेय भी प्रदान करती हैं। इस तरह का प्रायोजित बाल साहित्य कितना मनोवैज्ञानिक, स्तरीय व मन बहलाऊ हो सकता है इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है।

भारत की कुल जनसंख्या में बच्चे किसी भी तरह अल्प संख्यक नहीं हैं। सरकारी आंकड़े बताते हैं कि हमारी कुल जनसंख्या का 40 प्रतिशत भाग चौदह वर्ष तक के बच्चों का है। फिर भी वे उपेक्षा के शिकार हैं तो केवल इसलिए कि वे एकजुट हो अपने अधिकारों की मांग नहीं रख सकते। वे स्वाधीन नहीं हैं। वे पराश्रित हैं। उनकी अपनी कोई हैसियत नहीं है। कोई आवाज नहीं है। इसलिए वे संख्या में बहुत होने पर भी अधिकारों की दृष्टि से अल्प संख्यकों से भी बदतर स्थिति में हैं। शायद यह भी एक वजह है कि इनके साहित्य को साहित्य नहीं माना जाता। इनके लेखन को लेखन नहीं माना जाता। इनके लिए कोई कुछ भी लिख सकता है। इन्हें कोई कुछ भी उपदेश दे सकता है। हिन्दी साहित्य की अधुनातन लिखित इतिहास पुस्तकों में या हिन्दी में निकलने वाली सैकड़ों पत्र-पत्रिकाओं में कहीं बाल साहित्य के लेखकों का उल्लेख नहीं होता, उनकी रचनाओं की चर्चा भी नहीं होती। मानो बाल लेखन हिन्दी साहित्य का अंग है ही नहीं।

पर यह प्रवृत्ति हिन्दी में ही नहीं शायद सभी भारतीय भाषाओं में है। फिर अकेली हिन्दी को ही गुनहगार ठहराना ठीक नहीं है। हिन्दी समाज वृहत्तर भारतीय समाज की मानसिकता का एक लघुरूप ही तो है। आइए अब जरा इस बात पर भी विचार करें कि हम बाल साहित्य में क्या चाहते हैं। लीजिए फिर मैं गलत बात कह गया। विचार इस बात पर होना चाहिए कि बच्चे क्या पढ़ना चाहते हैं। पर बात इससे भी बनती दिखाई नहीं देती। क्योंकि इससे तो हम फिल्मकारों की उस दलील को मान्यता दे देते हैं जो वे अपनी फिल्मों में सैक्स, हिंसा, अपराध आदि बुराइयां यह कहकर परोसते हैं कि लोग इन्हें पसन्द करते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो इस तरह की फिल्में चलती ही नहीं। दरअसल वे लोगों की रुचि को जानते ही नहीं। जानने की कोशिश भी नहीं करते। क्योंकि उन्हें यह पता है कि वे जो कुछ जनता को मनोरंजन के नाम पर देंगे वह उससे आनन्द प्राप्त करेगी। जनता की रुचि को परिष्कृत करने या उसे मानसिक स्तर पर उदात्त बनाने का दायित्व उनका नहीं है। वे फिल्मकार हैं समाज सुधारक नहीं हैं। बाल साहित्य की विषयवस्तु का द्वन्द्व भी इससे मिलता जुलता ही है। उन्हें वह साहित्य पढ़ने को मिले जो हम उपयोगी समझते हैं या वैसा लिखा जाए जो उन्हें प्रिय है। सच्चाई यह है कि बालोपयोगी साहित्य तो हिन्दी में है और विपुल मात्रा में है। क्योंकि हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत आनन्द के साथ शिक्षा को महत्त्व देने वाली रही है। आनन्द और शिक्षा के बीच सन्तुलन कायम करना या इनमें से किसी एक को दूसरे अनुपात में कम/अधिक करना रचनाकार के विवेक पर निर्भर रहा है। संस्कृत के कथा साहित्य पर आधारित जो भी बालकथाएं लिखी गई हैं वे निश्चय ही नीति प्रधान हैं। क्योंकि मूल रूप में वे लिखी ही बच्चों को उनके कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक बनाने के लिए थीं। उनमें मनोरंजन कम और नैतिक उपदेश की मात्रा अधिक है। इससे हटकर जो बाल साहित्य लिखा गया और जिसे मौलिक माना जाता है अफसोस है वह भी नैतिक मताग्रहों से मुक्त कम ही दिखाई देता है। क्योंकि इसका लेखक भी आखिर इसी समाज की एक इकाई रहा है जिसके लिए मनोरंजन के साथ शिक्षा न देने वाला साहित्य सार्थक हो ही नहीं सकता।

जहां तक बच्चों को प्रिय लगने वाले साहित्य का सवाल है इस पर विचार करने से पहले हमें यह तय कर लेना चाहिए कि हम बच्चा किसे मानते हैं ? 1986 का बाल श्रम प्रतिषेध एवं विनियम कानून 14 साल से कम उम्र के व्यक्ति को बच्चा परिभाषित करता है। लेकिन क्या पांच साल के बच्चे और तेरह चौदह साल के बच्चे का मनोविज्ञान, कल्पनाशीलता, पसन्द-नापसन्द व बौद्धिक स्तर एक जैसा होता है ? या गांव के बच्चे और शहर के बच्चे, सरकारी स्कूल में और हाई फाई स्कूल में पढ़ने वाले बच्चे को एक जैसा साहित्य पसन्द आ सकता है ? क्या झुग्गी झोंपड़ी में रहकर जैसे तैसे पढ़ाई जारी रखने वाले एवं उच्च घरानों में पलते हुए औपचारिक अनौपचारिक तरीकों से ज्ञानार्जन करने वाले बच्चे का मानसिक स्तर एक सरीखा हो सकता है ? इन विसंगतियों को ध्यान में रखते हुए हमें बाल साहित्य से अपनी अपेक्षाओं का स्वरूप निर्धारित करना होगा। क्योंकि प्राय: बाल साहित्य की उपयोगिता पर विचार करते समय हम इन सब भिन्नताओं को नजरअन्दाज कर मध्यमवर्गीय खासतौर पर नव अभिजात परिवारों के बच्चों की आवश्यकताओं तक ही अपने विचार परिसीमित रखते हैं। क्योंकि हमारी तात्कालिक पहुंच तथा यथार्थपरक जानकारी इनके बारे में ही होती है। गांव की, गरीबी की, निरक्षरता की और सामाजिक व सरकारी वंचना के शिकार लोगों के बच्चों के बारे में हमारी जो कुछ समझ होती है वह

उनके बारे में पढ़कर/सुनकर हासिल की हुई होती है। उसे यदि हम सैकिण्ड हैण्ड समझ कहें तो अधिक उचित रहेगा। जाहिर है यह समझ किसी भी दृष्टि से स्वानुभूति के समतुल्य कहलाने की हकदार नहीं हो सकती।

बहरहाल हमें मौटे तौर पर सभी तरह के बच्चों का सामाजिक, आर्थिक के साथ मानसिक स्तरानुसार वर्गीकरण करना होगा। इस तरह आठ नौ साल तक के बच्चे एक वर्ग में और 9 से 14 तक के दूसरे वर्ग में हो सकते हैं। इन्हें बाल वर्ग और किशोर वर्ग भी कहा जा सकता है। मध्यम व धनिक वर्ग के अधिक खर्चीले पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले पॉश कॉलोनी के वाशिन्दा बच्चों का एक वर्ग और दूसरा वर्ग दीन-हीन, वंचित ग्रामवासियों तथा झुग्गी झोंपड़ी में रहने वालों के हिन्दी माध्यम सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों का हो सकता है। आठ नौ साल तक के बच्चों को पशु-पक्षियों, स्पाइडरमैन, फैंटम, हातिमताई, अली बाबा, भूत-प्रेतों, परियों, राक्षसों, अतिमानवीय शक्तियों आदि की कहानियों में आनन्द मिल सकता है। उनमें कल्पनाशीलता अधिक होती है। तर्क वितर्क से परे वे सहज विश्वासी होते हैं। उन्हें चमत्कारों, संयोगों पर सन्देह नहीं होता। उन्हें केवल मनोरंजन चाहिए। अच्छा है उन्हें किसी तरह की सीख न दी जाए। अब तो बड़े घरानों के बच्चे अपनी मांओं से ऐसी बातें शुरू करने से पहले ही टोक देते हैं - नो ममी, नो एम. टी. प्लीज। (ममी कृपया मोरल टीचिंग मत कीजिए।) इनसे बड़े बच्चों अर्थात् किशोरों के लिए रहस्य-रोमांच, एडवेंचर, राजा महाराजाओं के अद्‌भुत कारनामे, विचित्र लोकों की सैर, अखिल ब्रह्मांड की जानकारी, ऐतिहासिक घटनाएं, दुस्साहसिक कृत्य, धीरोदात्त नायकों के क्रिया-कलाप जैसी सामग्री आकर्षक हो सकती है बशर्ते उसे रोचक ढंग से प्रस्तुत किया जाए। सीख या उपदेश प्रधान सामग्री उन्हें भी रुचिकर नहीं लग सकती। लेकिन यदि यह सीख बिल्कुल ही अप्रत्यक्ष तरीके से दी जाए तो ग्राह्य हो सकती है। इसका एक बहुत अच्छा उदाहरण सुदर्शन की कहानी 'हार की जीत' हो सकती है। लेकिन सुदर्शन तो सिद्धहस्त लेखक थे। वैसे लेखक इन दिनों किशोर साहित्य के अध्ययन व लेखन से दूरी ही बना कर रखते हैं। और जो लोग प्रोफेशनल हैं उनसे ऐसी उम्मीद ही करना निरर्थक है।

बाल साहित्य का मनोरंजक होना पहली शर्त है। उससे कोई सीख भी मिल जाए तो कोई बुरी बात नहीं। कठिनाई तब होती है जब केवल इस या उस पर अधिक जोर दिया जाता है। उच्च कोटि का मनोरंजन बच्चों के मन को स्वस्थ तो बनाता ही है उनकी रुचियों का परिष्कार भी करता है। वह स्वत: शिक्षा प्रधान होता है। हां, शिक्षा या उपदेश देने के लिए लिखा गया साहित्य कितना भी मनोरंजक क्यों न हो, न मन बहलाता है और न शिक्षा देता है। इसलिए अच्छा बाल साहित्य तैयार करने के लिए अच्छे लेखकों की जरूरत है। इस द्वन्द्व का समाधान तभी हो सकता है जब समर्थ लेखक इस क्षेत्र में, संकोच त्यागकर पदार्पण करें। गिजुभाई व रूसी लेखक मकारेंको का साहित्य, यदि वे चाहें तो उनका मार्गदर्शन कर सकता है।

भारतीय परिवार व्यवस्था में माता-पिता बच्चों के प्रति कुछ अधिक ही संवेदनशील देखे जा सकते हैं। वे बच्चों की समझ, उनके निर्णय लेने की क्षमता, उनकी स्वतंत्र सोच को प्रोत्साहित करने से इसलिए डरते हैं कि कहीं उनका गलत कदम कोई मुसीबत न पैदा कर दे। इसलिए वे क्या पढ़ें, क्या देखें, क्या खेलें, किससे मिलें, क्या सीखें जैसी बातों का फैसला करने में भी उनकी स्वतंत्रता को प्राय: नकारते हैं और उन पर अपने निर्णय आरोपित करते हैं। अब तक भी हाल यह है कि वयस्क युवक-युवतियों तक को वे अपनी इच्छानुसार जीवन साथी चुनने का अधिकार देना पसन्द नहीं करते। वे मानते हैं कि बच्चों का भला चाहने वाला उनसे अधिक भला और कौन हो सकता है ? यह मनोवृत्ति भी प्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से बाल साहित्य का नैतिक मूल्य परक होना आवश्यक बनाती है। लेकिन सचाई यह है कि यह सोच लोकतांत्रिक जीवन पद्धति के अनुरूप नहीं है। बच्चे बड़े होकर लोकतंत्र के लिए उपयोगी नागरिक तभी बन सकते हैं जब उन्हें शुरू से ही स्वतंत्र चिन्तन का प्रशिक्षण और स्वानुभूत सत्य पर आधारित जीवन दर्शन प्राप्त होता है। अफसोस है हम आज भी बच्चों को वह नहीं दे रहे हैं।

ध्यान देने की बात यह भी है कि शिक्षा और साहित्य संस्कृति के अंग होते हुए भी दोनों अलग-अलग हैं। आवश्यकता होने पर वे एक दूसरे की सीमा में प्रवेश तो कर सकते हैं उन्हें अपनी प्रकृति के अनुरूप ढलने के लिए बाध्य नहीं कर सकते। बाल साहित्य भी अपनी संस्कृति से अछूता तो नहीं रह सकता इसलिए जाहिर है यहां अभी भी वही लेखन बच्चों को लुभा सकता है जो उनकी मनोसंरचना से मेल खाता हो। हैरीपॉटर जैसी कृतियां चाहे जितना विश्वविजयी होने का दावा करें आज भी उसे खरीदने, पढ़ने, समझने और आनन्द लेने वाले बच्चों की संख्या कुल भारतीय बच्चों की संख्या का मुट्ठी भर भी नहीं है। पर यह भी सच है कि धीरे-धीरे मानसिकता बदल रही है और बच्चों की रुचियां भी। हो सकता है उनके साहित्य लेखन में भी जल्दी ही बदलाव दिखाई दे। ◆